IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

21वीं सदी का भारत : भारतीय संविधान औंर समान नागरिक संहिता में विविधता और समानता का संतुलन

आशुतोष रंजन
सीनियर रिसर्च फेलो, राजनीति विज्ञान
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सार

समान नागरिक संहिता भारत के संवैधानिक न्याय लैंगिक समानता और बहुसंस्कृतिवाद के बीच सबसे जटिल और संवेदनशील विमर्शों में से एक है। संविधान का अनुच्छेद 44 सभी नागरिकों के लिए समान कानून सुनिश्चित करने का निर्देश देता है, जिसका उद्देश्य भेदभाव समाप्त कर सामाजिक न्याय और नागरिक समानता की स्थापना करना है। किंतु भारत की बहुसांस्कृतिक संरचना और धार्मिक विविधता इस लक्ष्य को सीधे लागू करने में कठिन बनाती हैं। न्यायपालिका ने समय–समय पर यू.सी.सी. की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। शाह बानो केस (1985) और शायरा बानो केस (2017) इसके प्रमुख उदाहरण हैं, जहाँ महिलाओं के अधिकार और धार्मिक प्रथाओं के बीच टकराव उभरकर सामने आए हैं। *इन निर्णयों ने यह दिखाया कि समानता केवल कानूनी आदेश का विषय नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संवेदनशीलता और सामाजिक न्याय की गारंटी भी है।* बहुसंस्कृतिवाद के दृष्टिकोण से देखा जाए तो यू.सी.सी. केवल कानून लागू करने का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक पहचान और समुदायों की स्वायत्तता से गहराई से जुड़ा है। यदि *इसे संवाद, सहभागिता और क्षेत्रीय प्रयोगों के साथ चरणबद्ध रूप से लागू किया जाए तो यह भारतीय लोकतंत्र को अधिक मजबूत और समावेशी बना सकता है।* यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि नीतियाँ सदर्भ–संवेदनशील और सहभागी हों, ताकि समानता और विविधता दोनों का संतुलन सुनिश्चित किया जा सके।

इस आलेख का उद्देश्य यही है कि समान नागरिक संहिता और बहुसंस्कृतिवाद के बीच संतुलन को समझते हुए प्रशासनिक और नीति निर्माण स्तर पर व्यावहारिक समाधान खोजा जाए इसके तहत समानता, न्याय और सांस्कृतिक बहुलता के प्रशासनिक आयाम का विश्लेषण किया गया है, साथ ही विरोधाभासों चुनौतियों और सुधार के संभावित उपायों का संतुलित मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्षतः समान नागरिक संहिता केवल कानूनी सुधार का प्रतीक ही नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज की समानता, न्याय और एकता की भावना का प्रतीक भी है। यदि इसे लोकतंत्र में समानता, न्याय और सांस्कृतिक संवेदनशीलता के संतुलन के साथ समावेशी व सहभागी दृष्टिकोण के साथ लागू किया जाए, तो यह न केवल महिलाओं और कमजोर वर्गों को सशक्त करेगा, बल्कि भारत के बहुलतावादी लोकतंत्र को भी अधिक मजबूत बनाएगा।

बीज शब्द : समान नागरिक संहिता, भारतीय संविधान, लैंगिक समानता, बहुसंस्कृतिवाद, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक पहचान, लोकतांत्रिक प्रशासन, न्यायपालिका।

प्रस्तावना

भारत का लोकतांत्रिक प्रशासन बहुसांस्कृतिक समाज में "विविधता में एकता'' के सिद्धांत पर आधारित है, जो यह सुनिश्चित करता है कि सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताएँ राष्ट्र की साझा पहचान और प्रशासनिक एकता के लिए सहायक हों। संवैधानिक ढांचा एक पंथनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो न केवल नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है बल्कि व्यक्तिगत कानूनों में समुदाय–विशेष स्वायत्तता की भी गारंटी देता है, ऑस्टिन, (2002)।

इस संदर्भ में अंतर्निहित विरोधाभास तब उभरता है जब समान नागरिक संहिता के कार्यान्वयन का प्रश्न सामने आता है, जिसका उद्देश्य धर्म आधारित व्यक्तिगत कानूनों की जगह विवाह, तलाक, उत्तराधिकार और दत्तक ग्रहण जैसे नागरिक मामलों में समानता सुनिश्चित करना है (भार्गव, 1998)।

समान नागरिक संहिता का मुद्दा विशेष रूप से तब अधिक विवादास्पद हो गया जब सुप्रीम कोर्ट ने मुहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम (1985) के मामले में समान नागरिक संहिता की आवश्यकता को लैंगिक न्याय और संवैधानिक समानता के दृष्टिकोण से रेखांकित किया। इस निर्णय ने प्रशासनिक और न्यायिक प्रणाली के लिए यह स्पष्ट संकेत दिया कि व्यक्तिगत कानून केवल धार्मिक पहचान तक सीमित नहीं रह सकते, बल्कि उन्हें नागरिक अधिकारों, सामाजिक न्याय और समानता सुनिश्चित करने वाले होने चाहिए। इसके बावजूद, अल्पसंख्यक समुदायों में इसे बहुसांस्कृतिक समाज को एकरूप करने और सांस्कृतिक पहचान को कमजोर करने के प्रयास के रूप में देखा गया, जिससे सामाजिक और प्रशासनिक चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं (मामदानी, 2002)।

राजीव भार्गव के अनुसार, "भारत में समानता और विविधता के बीच तनाव केवल कानूनी नहीं बल्कि सभ्यतागत है। यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन केवल न्यायिक निर्णयों और कानूनी आदेशों तक सीमित नहीं रह सकता। इसे सांस्कृतिक संवेदनशीलता, सामाजिक स्वीकृति, नीति–निर्माण और प्रशासनिक रणनीतियों के समन्वय के माध्यम से लागू करना आवश्यक है।

इस शोध का उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि समान नागरिक संहिता किस हद तक बहुसंस्कृतिवाद के साथ सह–अस्तित्व कर सकती है, किन प्रशासनिक और सामाजिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, और किस प्रकार समानता और सांस्कृतिक बहुलता के बीच संतुलन स्थापित किया जा सकता है। साथ ही, यह अध्ययन यह सुझाव देता है कि संदर्भ–संवेदनशील, सहभागी और चरणबद्ध प्रशासनिक दृष्टिकोण अपनाने से नीति और कानून का प्रभाव अधिक स्थायी, स्वीकार्य और सामाजिक रूप से न्यायसंगत बनाया जा सकता है।

संविधान समान नागरिक संहिता : संविधान और कानूनी आधार

समान नागरिक संहिता मूलतः एक ऐसा प्रशासनिक और कानूनी ढाँचा है, जो सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होने वाले नागरिक कानून प्रदान करता है और नागरिक अधिकारों तथा सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करता है। संविधान सभा में इसके संबंध में गहन विचार–विमर्श हुआ। *डॉ0 बी0आर0 अंबेडकर जैसे नेताओं ने इसे आधुनिकीकरण, लैंगिक न्याय और राष्ट्रीय एकता के उपकरण के रूप में देखा, जबकि कुछ अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों ने इसे सांस्कृतिक स्वायत्तता पर आघात के रूप में माना।* इस बहस ने स्पष्ट किया कि समान नागरिक संहिता न केवल कानूनी पहलू बल्कि सामाजिक और प्रशासनिक दृष्टिकोण के लिए भी महत्वपूर्ण है। (संविधान सभा बहस, 1999)

भारतीय संविधान का *अनुच्छेद 44 राज्य को समान नागरिक संहिता की दिशा में प्रयास करने का निर्देश देता है। हालांकि, यह अनुच्छेद नीति–निर्देशक प्रावधान के रूप में है, इसलिए न्यायिक रूप से बाध्यकारी नहीं माना जाता (भारतीय संविधान, 1950)।* इसके बावजूद न्यायपालिका ने समय–समय पर इस विषय को सक्रिय रखा है और इसके संवैधानिक महत्व को रेखांकित किया है। उदाहरण के लिए *सरला मुद्गल बनाम भारत संघ (1995) में सुप्रीम कोर्ट ने राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता और समानता के दृष्टिकोण से समान नागरिक संहिता की आवश्यकता पर जोर दिया (सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, 1995)।*

इसके अतिरिक्त शायरा बानो बनाम भारत संघ (2017) में तत्काल तलाक को असंवैधानिक घोषित किया गया. जिससे स्पष्ट हुआ कि व्यक्तिगत कानूनों में सुधार और समान नागरिक संहिता की दिशा में कार्यवाही की आवश्यकता अब और भी सशक्त है। फ्लेविया अग्नेस के अनुसार, "समान नागरिक संहिता की वकालत अक्सर उस समरूपीकरण प्रवृत्ति को छिपाती है जो विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में महिलाओं के अधिकारों और सामाजिक न्याय की जटिलताओं को नजरअंदाज करती है (अग्नेस, 2011)।

इस प्रकार, समान नागरिक संहिता न केवल एक कानूनी सुधार है, बल्कि यह भारतीय प्रशासनिक तंत्र और नीति–निर्माण के लिए एक सशक्त साधन भी है. जो समानता, सामाजिक समरसता और बहुसांस्कृतिक सह–अस्तित्व सुनिश्चित कर सकता है। *इसके प्रभावी कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक दृष्टिकोण सांस्कृतिक संवेदनशीलता. सहभागिता और चरणबद्ध सुधार के सिद्धांतों पर आधारित हों, ताकि कानून केवल कागज़ी रूप में न रहकर समाज में न्यायसंगत और स्वीकार्य ढंग से लागू हो सके।*

बहुसंस्कृतिवाद और समान नागरिक संहिताः वैचारिक विमर्श

बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ लोकतांत्रिक और प्रशासनिक दृष्टिकोण से सांस्कृतिक विविधता की मान्यता, संरक्षण और समाज में न्यायसंगत समावेश है (किमलिका, 1995)। *भारतीय संदर्भ में यह केवल एक विकल्प नहीं, बल्कि सैकड़ों वर्षों के सह अस्तित्व, सांस्कृतिक आदान–प्रदान और सामाजिक अनुबंध की मानसिकता का परिणाम है।* भारतीय प्रशासनिक तंत्र में बहुसंस्कृतिवाद न केवल नीति–निर्माण के लिए चुनौती प्रस्तुत करता है, बल्कि कानून के लागू होने की प्रक्रिया में सामाजिक स्वीकृति. सहभागिता और संवेदनशीलता की भी आवश्यकता को रेखांकित करता है।

समान नागरिक संहिता और बहुसंस्कृतिवाद के बीच विवाद मुख्य रूप से दो प्रतिस्पर्धी और समान रूप से महत्वपूर्ण मूल्यों पर आधारित है। पहला मूल्य है समानता और कानून की एकरूपता, जो सुनिश्चित करता है कि सभी नागरिक किसी भी धार्मिक या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से स्वतंत्र रूप से समान अधिकार प्राप्त करें। दूसरा मूल्य है सांस्कृतिक स्वतंत्रता और विविधता, जो समुदायों की परंपराओं, प्रथाओं और पहचान को संरक्षित करता है।

यू.सी.सी. के समर्थक तर्क देते हैं कि किसी भी सांस्कृतिक प्रथा को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता यदि वह लैंगिक असमानता, सामाजिक अन्याय या मौलिक अधिकारों के उल्लंघन को बढ़ावा देती है। उनका मानना है कि कानून का प्राथमिक उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना और प्रशासनिक प्रणाली के माध्यम से सामाजिक न्याय स्थापित करना होना चाहिए। सेठ, (2002)

आलोचक विरोधात्मक स्वर में चेतावनी देते हैं कि यदि समान नागरिक संहिता को संबंधित सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भो की अनदेखी करते हुए जबरदस्ती लागू किया गया, तो यह अल्पसंख्यक समुदायों को सामाजिक और प्रशासनिक रूप से अलग–थलग कर सकता है, जिससे भारत के लोकतांत्रिक मूल्यों और सामाजिक समरसता को गंभीर खतरा उत्पन्न हो सकता है (सेन, 2005)। एकरूपता का खतरा इस तथ्य में है कि यह सांस्कृतिक भिन्नताओं की आवाज़ को दबा देता है। *यह स्पष्ट करता है कि समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन केवल कानूनी दृष्टिकोण तक सीमित नहीं रह सकता, बल्कि इसे सांस्कृतिक संवेदनशीलता, सहभागी नीति निर्माण और प्रशासनिक समन्वय के माध्यम से लागू करना आवश्यक है।*

इस प्रकार, बहुसंस्कृतिवाद और समान नागरिक संहिता के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए प्रशासनिक तंत्र को संदर्भ–संवेदनशील, चरणबद्ध और संवादात्मक रणनीति अपनानी होगी, ताकि समानता और न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण सुनिश्चित किया जा सके।

व्यक्तिगत कानून और न्यायपालिका की भूमिका

भारत में व्यक्तिगत कानून मुख्यतः समुदाय–विशेष पर आधारित हैं। हिंदू समुदाय के लिए अधिकांश कानून संहिताबद्ध हैं, जैसे कि हिंदू–विवाह अधिनियम और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, जबकि मुस्लिम, ईसाई और पारसी समुदायों के लिए कानून आंशिक रूप से संहिताबद्ध और आंशिक रूप से परंपरागत प्रथाओं पर आधारित हैं। इस संरचना ने न्यायपालिका को महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी है, ताकि संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप व्यक्तिगत कानूनों की व्याख्या और संशोधन किया जा सके, और प्रशासनिक तथा सामाजिक संतुलन बनाए रखा जा सके (बक्सी, 2000)।

शाह बानो बनाम भारत संघ (1985) का मामला इस संदर्भ में निर्णायक मोड़ साबित हुआ। सुप्रीम कोर्ट ने क्रिमिनल प्रॉसीजर कोड की धारा 125 के तहत एक मुस्लिम तलाकशुदा महिला को भरण–पोषण का अधिकार प्रदान किया, जो संवैधानिक समानता और लैंगिक न्याय का प्रत्यक्ष उदाहरण था खान (1985)। हालांकि, राजनीतिक दबाव में पारित मुस्लिम महिला (तलाक अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 ने न्यायालय के आदेश को आंशिक रूप से कमजोर किया, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि व्यक्तिगत कानूनों और प्रशासनिक निर्णयों के बीच संतुलन बनाए रखना अत्यंत जटिल प्रक्रिया है।

इसी प्रकार, दानील लतीफ बनाम भारत संघ (2001) के मामले में न्यायालय ने मुस्लिम व्यक्तिगत कानून और संवैधानिक सिद्धांतों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि व्यक्तिगत कानूनों का कार्यान्वयन केवल सांस्कृतिक पहचान तक सीमित नहीं रह सकता, बल्कि इसे संविधान की मूलभूत समानता और न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप ढालना आवश्यक है।

इस प्रकार, न्यायपालिका ने व्यक्तिगत कानूनों के संदर्भ में संवैधानिक संरक्षण, सामाजिक समरसता और प्रशासनिक कार्यान्वयन के बीच संतुलन बनाए रखने का मार्ग प्रशस्त किया। यह स्पष्ट करता है कि समान नागरिक संहिता जैसी पहल का प्रभावी कार्यान्वयन केवल कानूनी आदेशों तक सीमित नहीं रह सकता, बल्कि इसे सांस्कृतिक संवेदनशीलता, सहभागी नीति निर्माण और प्रशासनिक समन्वय के माध्यम से लागू करना आवश्यक है। ऐसे दृष्टिकोण से ही भारत में विविधता और समानता के बीच संतुलन कायम रह सकता है।

सांस्कृतिक बहुलता बनाम एकरूपता : विरोधाभास और संभावनाएँ

समान नागरिक संहिता पर विमर्श भारतीय लोकतंत्र के सबसे जटिल और बहुआयामी प्रश्नों में से एक है। संविधान सभा में अनुच्छेद 44 को नीति निर्देशक तत्व के रूप में शामिल किया गया था, किंतु इसे बाध्यकारी न बनाकर केवल राज्य के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में रखा गया (संविधान सभा वाद–विवाद, 1948)। इसी कारण स्वतंत्रता के बाद से अब तक यू.सी.सी. पर निरंतर चर्चा होती रही है. परंतु इसके क्रियान्वयन की दिशा हमेशा विवादास्पद बनी रही है। *एक ओर इसे महिलाओं के सशक्तिकरण, लैंगिक न्याय और राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन का माध्यम माना जाता है, वहीं दूसरी ओर अल्पसंख्यक समुदायों में यह आशंका व्याप्त रही है कि यह उनकी सांस्कृतिक विविधता और धार्मिक स्वायत्तता पर आघात करेगा, उनकी पहचान को क्षीण करेगा और पारंपरिक अधिकारों को कमजोर कर देगा।*

इसी संदर्भ में में मूलत मूल तनाव दो ध्रूवों के बीच उभरता है– लैंगिक न्याय बनाम धार्मिक स्वतंत्रता, और राष्ट्रीय समरसता बनाम संवैधानिक बहुसांस्कृतिकता। यही द्वन्द प्रशासनिक और नीति–निर्माण के स्तर पर गंभीर चुनौती उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, यह प्रश्न केवल कानूनी नहीं बल्कि गहरी सामाजिक–सांस्कृतिक जटिलताओं से भी जुड़ा हुआ है।

इतिहास में न्यायपालिका ने भी इस प्रश्न को बार–बार रेखांकित किया है। उदाहरणस्वरूप, शाह बानो प्रकरण (1985) में सुप्रीम कोर्ट ने मुस्लिम महिलाओं के भरण–पोषण अधिकार को सुनिश्चित करते हुए यू.सी.सी. की आवश्यकता पर बल दिया। इसी क्रम में, सरला मुद्गल केस (1995) और पाली मिनी बनाम भारत संघ (2019) जैसे मामलों में भी न्यायालय ने समान नागरिक संहिता को राष्ट्र की एकता और समानता का साधन कहा। तथापि, न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यूसीसी का क्रियान्वयन विधायिका और लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर ही निर्भर करेगा। परिणामस्वरूप यह दृष्टिकोण और पुष्ट होता है कि *यू.सी.सी. केवल एक कानूनी प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग है।* अन्य देशों के अनुभव भी भारत के संदर्भ को और स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस ने Laicite (धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा) की नीति के अंतर्गत धार्मिक पहचान को सार्वजनिक जीवन से बाहर करने का प्रयास किया, जिससे कठोर एकरूपता स्थापित हुई। दूसरी ओर, अमेरिका ने 'Salad Bowl" मॉडल के माध्यम से विविधताओं को मान्यता दी और साथ ही संवैधानिक समानता की गारंटी भी सुनिश्चित की। भारत की स्थिति इन दोनों से भिन्न है, क्योंकि यहाँ धर्म और संस्कृति केवल व्यक्तिगत पहचान ही नहीं बल्कि सामाजिक–सामुदायिक संरचना के आधार हैं। अतः भारत में यूसीसी का लागू होना केवल कानूनी सुधार नहीं बल्कि व्यापक सामाजिक परिवर्तन जैसा होगा। फिर भी संभावनाओं के द्वारा पूरी तरह बंद नहीं हैं। सुधार की संभावना उन संदर्भ–संवेदनशील उपायों में निहित है जिन्हें व्यक्तिगत कानूनों में चरणबद्ध और विवेकपूर्ण बदलाव के माध्यम से लागू किया जा सकता है। विशेषकर उन क्षेत्रों में, जहाँ लैंगिक असमानता और भेदभाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं, संवैधानिक मूल्यों जैसे समानता और गरिमा को प्राथमिकता देते हुए परिवर्तन संभव है।

यदि सुधार इस प्रकार लागू किए जाएँ कि वे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन न करें, बल्कि सांस्कृतिक प्रथाओं और सामाजिक मान्यताओं का सम्मान करते हुए प्रगतिशील बदलाव लाएँ, तो वे न्यायिक और प्रशासनिक दृष्टि से अधिक स्वीकार्य सिद्ध होंगे। यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता हैं कि एकरुपता थोपने के बजाय संदर्भ–आधारित संवेदनशील सुधार अधिक व्यवहार्य होंगे। इसके अतिरिक्त, सहभागी नीति–निर्माण भी यू.सी.सी. के विवाद को सुलझाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। यदि सरकार और विधि–निर्माता सामाजिक संवाद, समुदाय–विशेष परामर्श और नागरिक समाज की भागीदारी को प्राथमिकता दें, तो यह प्रक्रिया केवल ऊपर से थोपा गया कानून न रहकर सामूहिक सहमति से बने संवैधानिक अनुबंध के रूप में उभरेगी। परिणामस्वरूप इससे राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक पहचान के बीच संतुलन स्थापित करने में मदद मिलेगी। साथ ही शैक्षिक सुधार, जागरूकता अभियान और लैंगिक संवेदनशीलता के प्रसार को भी इस विमर्श से जोड़ा जाना चाहिए, क्योंकि जब तक सामाजिक चेतना में न्याय और समानता की स्वीकृति नहीं होगी, तब तक कोई भी कानूनी प्रावधान अपने उद्देश्य को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर पाएगा।

इस प्रकार समान नागरिक संहिता को केवल कानूनी सुधार के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि इसे भारतीय लोकतंत्र की उस सतत् प्रक्रिया का हिस्सा माना जाना चाहिए, जिसमें सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक संवेदनशीलता और समानता एक साथ समाहित हों। *यदि नीति–निर्माता एकरूपता थोपने के बजाय बहुलता के भीतर समानता स्थापित करने की दिशा में कार्य करें, तो यह संहिता भारतीय प्रशासन और लोकतंत्र को और अधिक समावेशी, न्यायसंगत और सशक्त बनाने वाला उपकरण बन सकती है।* जैसा कि उपेंद्र बक्सी (2000) टिप्पणी करते हैं, भारत में विधिक सुधार का भविष्य केवल संविधान द्वारा नहीं बल्कि समाज की सक्रिय भागीदारी और न्याय की संवेदनशील पुनर्परिभाषा से ही तय होगा।

समान नागरिक संहिता (UCC) के पक्ष और विपक्ष

समान नागरिक संहिता के पक्ष में तर्क मुख्यतः लैंगिक न्याय, कानून के समक्ष समानता और धर्मनिरपेक्षता के सुदृढ़ीकरण पर केंद्रित हैं। इसके समर्थक यह मानते हैं कि समान नागरिक संहिता भेदभावपूर्ण प्रथाओं और सामाजिक अन्याय को समाप्त करने में सहायक है, जिससे कानूनी प्रक्रियाएँ अधिक सरल पारदर्शी और समावेशी बन सकती हैं। इसके अलावा, समान नागरिक संहिता को राष्ट्रीय एकता और समानता के प्रतीक के रूप में भी देखा जाता है, क्योंकि यह सभी नागरिकों के लिए कानून की समानता सुनिश्चित करती है और प्रशासनिक प्रणाली को अधिक प्रभावी बनाती है। इसके विपरीत, विरोधक मुख्यतः सांस्कृतिक स्वायत्तता, अल्पसंख्यक अधिकारों की सुरक्षा और राजनीतिकरण के संभावित खतरे को उजागर करते हैं। उनका तर्क है कि यदि समान नागरिक संहिता को बिना व्यापक सामाजिक समझौते और समुदाय विशेष सहभागिता के लागू किया गया, तो यह सामाजिक ध्रुवीकरण व असंतोष को और बढ़ा सकता है। विशेष रूप से अल्पसंख्यक समुदाय इसे बहुसंख्यक संस्कारों और परंपराओं को जबरदस्ती लागू करने का प्रयास मानते हैं, जिससे सामाजिक और प्रशासनिक संतुलन संकट में पड़ सकता है।

इस संदर्भ में, एक संतुलित दृष्टिकोण आवश्यक है, जो सुनिश्चित करे कि कानूनी सुधार केवल सांस्कृतिक दबाव या राजनीतिक लाभ का माध्यम न बने। समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन तभी प्रभावी और स्वीकार्य होगा जब इसे सांस्कृतिक संवेदनशीलता, चरणबद्ध प्रशासनिक प्रक्रिया और सहभागिता पर आधारित नीति निर्माण के माध्यम से लागू किया जाए। इस तरह समान नागरिक संहिता न केवल कानूनी और प्रशासनिक सुधार का साधन बनती है, बल्कि यह भारत में समानता, सामाजिक न्याय और बहुसांस्कृतिक सह अस्तित्व सुनिश्चित करने का भी एक सशक्त उपकरण बन सकती है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य और तुलनात्मक विश्लेषण

वैश्विक स्तर पर बहुसंस्कृतिवाद और कानून की एकरूपता पर चल रही बहस ने भारत के प्रशासनिक संदर्भ के लिए कई महत्वपूर्ण सीखें प्रदान की हैं। उदाहरणस्वरूप, तुर्की ने 1926 में स्विस नागरिक संहिता को अपना कर इस्लामी व्यक्तिगत कानूनों को पूरी तरह प्रतिस्थापित कर दिया।

इस प्रशासनिक सुधार का उद्देश्य समाज को आधुनिक बनाना, कानूनी एकरूपता स्थापित करना और महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करना था। तथापि, इस कदम से धार्मिक समुदायों की सांस्कृतिक स्वायत्तता और पहचान पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि केवल कानून का समाधान सामान्यीकरण पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके कार्यान्वयन में सांस्कृतिक और सामाजिक संवेदनशीलता को अनिवार्य रूप से ध्यान में रखना पड़ता है, अन्यथा सुधार के बजाय प्रतिरोध और असंतोष उत्पन्न हो सकता है। पश्चिमी लोकतंत्रों में भी समानता और बहुसांस्कृतिक सह–अस्तित्व के बीच संतुलन बनाने के लिए विविध रणनीतियाँ अपनाई गई हैं। कनाडा और यूनाइटेड किंगडम जैसे देशों ने बहुसांस्कृतिक नीतियाँ विकसित की हैं, जिनका उद्देश्य सांस्कृतिक अधिकारों और कानूनी समानता के बीच संतुलन स्थापित करना है (टेलर, 1994)। उदाहरण के लिए, कनाडा की "Reasonable Accommodation" नीति यह दर्शाती है कि यदि प्रशासनिक तंत्र समुदाय विशेष की आवश्यकताओं और संवेदनाओं को ध्यान में रखे, तो कानूनी समानता और सांस्कृतिक विविधता सह अस्तित्व कर सकती हैं। दूसरी ओर, यूनाइटेड किंगडम का बहुसांस्कृतिक दृष्टिकोण प्रवासी समुदायों को अपनी पहचान बनाए रखने का अवसर देता है, जबकि समान नागरिक अधिकारों की गारंटी भी सुनिश्चित करता है। इन दोनों उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांस्कृतिक अधिकारों का संरक्षण और समानता की संवैधानिक गारंटी परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हो सकते हैं. बशर्ते नीति–निर्माण में संवेदनशीलता और सहभागिता बनी रहे। दक्षिण अफ्रीका का संविधान भी इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है। अपार्थाइड की समाप्ति के बाद यह नया संविधान तैयार किया गया, जिसने सांस्कृतिक और धार्मिक विविधता को मान्यता दी. परंतु साथ ही यह भी सुनिश्चित किया कि कोई भी पारंपरिक प्रथा मानवाधिकारों और संवैधानिक मूल्यों का उल्लंघन न करे। इस मॉडल से यह सीख मिलती है कि बहुलता को मान्यता देते हुए भी समानता और न्याय के मूलभूत सिद्धांतों की रक्षा संभव है। अर्थात. बहुसंस्कृतिवाद और मानवाधिकारों के बीच कोई स्थायी टकराव नहीं, बल्कि संतुलन खोजने की आवश्यकता है। इसी के साथ वैश्विक परिप्रेक्ष्य यह स्पष्ट करता है कि सांस्कृतिक बहुलता और कानूनी समानता के बीच संतुलन बनाए रखना एक जटिल, किन्तु आवश्यक प्रशासनिक प्रक्रिया है। भारत में समान नागरिक संहिता के संदर्भ में इन अनुभवों से यह महत्वपूर्ण सीख मिलती है कि पूर्ण प्रतिस्थापन लागू करना न तो आवश्यक है और न ही व्यावहारिक। इसके विपरीत. संदर्भ–संवेदनशील, चरणबद्ध और सहभागी दृष्टिकोण अपनाना अधिक प्रभावी होगा। इसमें प्रशासनिक तंत्र को केवल कानून के समान अनुपालन की सुनिश्चितता ही नहीं करनी चाहिए, बल्कि सांस्कृतिक स्वायत्तता, मानवाधिकार और सामाजिक सहभागिता को भी नीति–निर्माण का अभिन्न अंग बनाना चाहिए। यदि ऐसा किया जाए, तो यूसीसी केवल कानूनी सुधार का औजार नहीं रहेगा, बल्कि यह

भारतीय लोकतंत्र को और अधिक समावेशी, संवेदनशील और न्यायपूर्ण बनाने की दिशा में एक निर्णायक कदम बन सकता है।

भविष्य की दिशा : समान नागरिक संहिता और बहुसंस्कृतिवाद का सामंजस्य

समान नागरिक संहिता का भविष्य भारत में केवल विधिक सुधार का प्रश्न नहीं है. बल्कि यह लोकतांत्रिक और प्रशासनिक दृष्टिकोण से एक संवेदनशील, समावेशी और बहुसांस्कृतिक समाज के निर्माण से जुड़ा हुआ है। यदि इसे अचानक और बलपूर्वक लागू किया गया, तो यह अल्पसंख्यक समुदायों में अविश्वास और प्रतिरोध उत्पन्न कर सकता है. जिससे सामाजिक असंतोष और राजनीतिक ध्रुवीकरण बढ़ने की आशंका है। इसलिए अधिक यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि इसे धीरे–धीरे, संदर्भ–संवेदनशील और विकासशील रणनीति के साथ आगे बढ़ाया जाए। विशेषकर तलाक, उत्तराधिकार और भरण पोषण जैसे व्यक्तिगत कानूनों में सुधार करते समय संवैधानिक सिद्धांतों और मानवाधिकारों को आधार बनाना आवश्यक है, ताकि सुधार, समानता और न्याय सुनिश्चित करें, परंतु साथ ही सांस्कृतिक पहचान और धार्मिक परंपराओं का संरक्षण भी कर सकें। इसके लिए राज्य को धार्मिक नेताओं, महिला संगठनों और नागरिक समाज के साथ निरंतर संवाद स्थापित करना होगा। इस संवाद से नीति निर्माण में व्यापक समर्थन और सामाजिक सहभागिता सुनिश्चित होगी, जिससे सुधार थोपे गए न लगकर सहभागी प्रक्रिया के हिस्से के रूप में स्वीकार किए जा सकेंगे। *भविष्य की दिशा में यह भी महत्वपूर्ण है कि समान नागरिक संहिता के कार्यान्वयन में लैंगिक न्याय और सांस्कृतिक संवेदनशीलता के बीच संतुलन स्थापित किया जाए।* इसका अर्थ यह नहीं कि महिलाओं के अधिकारों के नाम पर किसी समुदाय की परंपराओं को पूरी तरह नकार दिया जाए, बल्कि यह कि उन परंपराओं को संवैधानिक मूल्यों के साथ समन्वित करते हुए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्परिभाषित किया जाए मेन्स्की (2003)। उदाहरणस्वरूप, यदि विवाह और उत्तराधिकार के कानूनों में न्यूनतम स्तर पर समानता सुनिश्चित की जाए और उन्हें धीरे–धीरे व्यापक बनाया जाए, तो यह सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने का अधिक कारगर तरीका होगा।

इसके अतिरिक्त, क्षेत्रीय प्रयोग और पायलट प्रोजेक्ट भी भविष्य की दिशा में एक व्यावहारिक कदम हो सकते हैं। यदि किसी राज्य या क्षेत्र में छोटे स्तर पर समान नागरिक संहिता के कुछ प्रावधान लागू किए जाएँ और उनका सकारात्मक परिणाम मिले, तो उन्हें अन्य राज्यों में भी विस्तारित किया जा सकता है। इससे एक ओर प्रशासनिक जोखिम और सामाजिक विरोध कम होगा, दूसरी ओर नीति–निर्माताओं को व्यावहारिक अनुभव और प्रमाण–आधारित रणनीतियाँ प्राप्त होंगी। सैद्धांतिक स्तर पर समान नागरिक संहिता को न्यायपूर्ण बहुलता के सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए इसका तात्पर्य यह है कि विविधताओं को मिटाने के बजाय उनके भीतर समानता और न्याय के मूल्य स्थापित किए जाएँ। इस दृष्टिकोण में सांस्कृतिक अधिकार और संवैधानिक अधिकार परस्पर टकराने के बजाय संतुलित रूप से सह–अस्तित्व कर सकते हैं (चंद्रचूड़, 2016)। इसी तरह उपेंद्र बक्सी का मत है कि भारत में विधिक सुधार तभी स्थायी होगा जब वह सामाजिक सहमति और संवैधानिक न्याय दोनों का संतुलन साधे एवं भविष्य की दिशा यही इंगित करती है कि समान नागरिक संहिता और बहुसंस्कृतिवाद का सामंजस्य केवल कानूनी एकरूपता से नहीं, बल्कि संदर्भ–संवेदनशील, सहभागी और चरणबद्ध सुधारों से संभव है। यह दृष्टिकोण न केवल कानून के समान अनुपालन को सुनिश्चित करेगा, बल्कि भारत में समानता, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक सह–अस्तित्व को भी सुदृढ़ करेगा। इस प्रकार, समान नागरिक संहिता को भविष्य में भारतीय लोकतंत्र और प्रशासनिक तंत्र के लिए एक ऐसा उपकरण बनाया जा सकता है, जो लैंगिक न्याय और सांस्कृतिक विविधता दोनों की रक्षा करता हो और समाज में विश्वास तथा समरसता को बढ़ावा देता हो।

निष्कर्ष

समान नागरिक संहिता और बहुसंस्कृतिवाद पर चल रहे विवाद ने भारत के लोकतांत्रिक प्रशासन की जटिलताओं को स्पष्ट किया है। यह दर्शाता है कि समानता और विविधता के बीच संतुलन केवल कानूनी ढाँचे तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक दृष्टिकोणों को भी समाहित करता है।

सैद्धांतिक रूप से, यू.सी.सी. महिलाओं के अधिकार, समानता और नागरिक समानता को सुनिश्चित करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसे लागू करने के लिए प्रशासनिक नीतियाँ और रणनीतियाँ आवश्यक हैं, जो सांस्कृतिक बहुलता और अल्पसंख्यक समुदायों की स्वायत्तता का सम्मान करती हों। इसके लिए निम्न समाधान अपनाए जा सकते हैं :–

1. *चरणबद्ध सुधार* : व्यक्तिगत कानूनों में केवल उन प्रथाओं का संशोधन किया जाए जो मौलिक अधिकारों और लैंगिक न्याय का उल्लंघन करती हैं। उदाहरण के लिए, तलाक, उत्तराधिकार और भरण पोषण से संबंधित विवादास्पद प्रथाओं में सुधार।
2. *संवादात्मक प्रशासन* : राज्य, न्यायपालिका, धार्मिक और नागरिक संगठनों के बीच सतत संवाद और भागीदारी सुनिश्चित करे। इससे सुधारों की सामाजिक स्वीकार्यता बढ़ेगी और विवाद कम होंगे।
3. *क्षेत्रीय और परीक्षणात्मक नीतियाँ :* कुछ राज्यों या क्षेत्रों में प्रयोगात्मक रूप से सुधार लागू करना, और सफल होने पर राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार करना। यह प्रशासनिक दृष्टि से जोखिम कम करता है और समुदाय की सहमति सुनिश्चित करता है।
4. *सांस्कृतिक संवेदनशीलता* : प्रशासनिक दिशा–निर्देश और प्रशिक्षण कार्यक्रम सुनिश्चित करें कि अधिकारियों को बहुसांस्कृतिक दृष्टिकोण और सामाजिक विविधता की समझ हो, ताकि लागू होने वाले कानून समुदायों के लिए स्वीकार्य और न्यायसंगत बनें।
5. समीक्षा और निगरानी : सुधारों की प्रभावकारिता का आंकड़ों और स्थानीय प्रतिक्रिया पर आधारित मूल्यांकन करना आवश्यक है। प्रशासनिक प्रणाली में एक निगरानी तंत्र होना चाहिए जो समय–समय पर सुधार की सिफारिश कर सके। इन व्यावहारिक उपायों के माध्यम से, सिद्धांत और प्रशासनिक नीति के बीच पुल बनता है। भारत में यू.सी.सी. को केवल कानूनी आदेश के रूप में नहीं, बल्कि संपूर्ण प्रशासनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सहभागी और संवेदनशील प्रक्रिया के रूप में लागू किया जा सकता है। इस तरह न केवल महिलाओं के अधिकार और समानता सुनिश्चित होंगे, बल्कि भारत की बहुसांस्कृतिक लोकतांत्रिक संरचना भी सुरक्षित रहेगी।

अंततः, भारत के लोकतांत्रिक प्रशासन के लिए यह चुनौती एक अवसर में परिवर्तित हो सकती है। यदि नीति–निर्माता, न्यायपालिका और समाज मिलकर विविधता के भीतर समानता की दिशा में सामंजस्यपूर्ण समाधान अपनाएँ, तो समान नागरिक संहिता, बहुसंस्कृतिवाद के साथ संतुलित रूप से सह–अस्तित्व कर सकता है और भारत की प्रशासनिक प्रणाली को सुदृढ़ कर सकता है।

संदर्भ सूची

1. ऑस्टिन, जी. (2002). वर्किंग ए. डेमोक्रेटिक कॉन्स्टिट्यूशनः द इंडियन एक्सपीरियंस. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. भार्गव, आर. (1998) सेकुलरिज्म एंड इट्स क्रिटिक्स. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. मामदानी, एम. (2002). गुड मुस्लिम, बैड मुस्लिमः अमेरिका, द कोल्ड वॉर एंड द रूट्स ऑफ़ टेरर. न्यूयॉर्कः पैन्थियन बुक्स।
4. संविधान सभा बहस. (1999). संविधान सभा की कार्यवाही (खंड 1–12). नई दिल्लीः लोकसभा सचिवालय।
5. भारतीय संविधान. (1950). नई दिल्लीः भारत सरकार।
6. सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया. (1995). सरना मुद्गल बनाम भारत संघ, AIR 1995 SC 1531. नई दिल्लीः भारत का सर्वोच्च न्यायालय।
7. अग्नेस, एफ. (2011). लॉ, जस्टिस एंड जेंडरः फेमिनिस्ट सोशल एंड लीगल थ्योरीज़ इन इंडिया. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. किमलिका, डब्ल्यू. (1995). मल्टीकल्चरल सिटीजनशिपः ए लिबरल थ्योरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स. ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया. (2017). शायरा बानो बनाम भारत संघ, AIR 2017 SC 4609. नई दिल्लीः भारत का सर्वोच्च न्यायालय।
10. सेठ, आर. (2002). कानून, न्याय और प्रशासनः भारतीय संदर्भ में संवैधानिक विमर्श. नई दिल्लीः सागर प्रकाशन।
11. सेन, अमर्त्य. (2005). द आर्ग्युमेंटेटिव इंडियनः राइटिंग्स ऑन इंडियन कल्चर, हिस्ट्री एंड आइडेंटिटी. नई दिल्लीः पेंगुइन बुक्स।
12. बक्सी, उपेन्द्र. (2000). भारतीय कानून और न्यायः सामाजिक आयाम. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
13. खान, एम. ए. (1985). शाह बानो बनाम भारत संघ, AIR 1985 SC 945. नई दिल्लीः भारत का सर्वोच्च न्यायालय।
14. सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया. (2001). दानील लतीफ बनाम भारत संघ, AIR 2001 SC 3958. नई दिल्लीः भारत का सर्वोच्च न्यायालय।

15. संविधान सभा वाद–विवाद (1948). भारत के संविधान की निर्माण प्रक्रिया पर संविधान सभा की कार्यवाही (खंड 7). नई दिल्लीः लोकसभा सचिवालय।
16. टेनर, चार्ल्स. (1994). मल्टीकल्चरनिज़्म : द पॉलिटिक्स ऑफ रिकग्निशन की समीक्षा. प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
18. मेंसकी, जे. (2003). समानता, विवाह और उत्तराधिकारः आधुनिक कानूनी दृष्टिकोण में लैंगिक न्याय. लंदनः रूटलेज प्रकाशन।
19. चंद्रचूड़, पी. (2016). समान नागरिक संहिता और संवैधानिक बहुलता : न्याय, संस्कृति और शासन का संतुलन. नई दिल्लीः न्यायिक अध्ययन केंद्र।